लेख

प्राकृतिक कितना स्वाभाविक है?

नारीवाद एवं अनिवार्य विषमलैंगिकता

निवेदिता मेनन

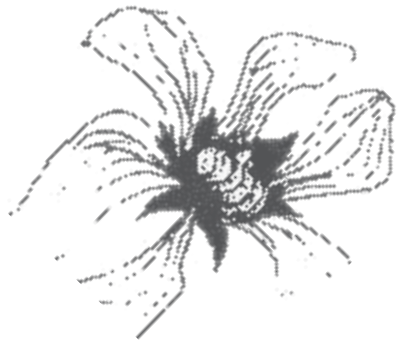

भारत में यौन इच्छाओं के विषय को उठाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा ही इस चेतावनी का सामना करना पड़ा है कि हमारे समक्ष निर्धनता, जाति और सांप्रदायिकता जैसे अन्य गंभीर विषय हैं जिन्हें पहले हल किया जाना आवश्यक है। यह एक ऐसा तर्क है जिसके सामने प्रचलित सामान्य व्यवहारों को चुनौती देने वाला प्रत्येक विषय बेमानी हो जाता है। उदाहरण के लिए आरक्षण के मामले में यह सुनने को मिलता है कि नौकरियों में आरक्षण देने मात्र से दलितों का भला नहीं होने वाला और भूमि सुधार जैसे आधारभूत परिवर्तनों के आ जाने के पश्चात ही उनकी स्थिति में वास्तविक सुधार होगा। जब तक पूरी तरह से स्पष्ट बदलाव नहीं हो जाते तब तक हमें स्थिति को यथावत रखना चाहिए। यदि आपके विचार इन प्रचलित विचारों से मेल न खाते हों और आप बार-बार कहें कि उपेक्षित समूह के उत्पीड़न का विषय भी महत्वपूर्ण और शीघ्र हल किये जाने वाला है तो आप पर 'अलग पहचान बनाने की राजनीति करने' और आम राय कायम करने के प्रयासों को धक्का पहुंचाने का आरोप लग जाता है।

यह आरोप उन लोगों द्वारा लगाया जाता है जो महिला, मुस्लिम, दलित या समलैंगिक जैसी किसी पहचान की अपेक्षा 'भारतीय नागरिक' जैसी काल्पनिक पहचान को ओढ़े होते हैं। आप वास्तव में अत्यंत सौभाग्यशाली होंगे यदि आप 'नागरिक' होने के इस काल्पनिक लेबल को ओढ़ने का साहस कर सकें। यदि आप किसी विशेष वर्ग से संबंध रखने के कारण अच्छी स्थिति में हों तो ही आप यह भूल सकते हैं कि आप उपरोक्त किसी एक पहचान का भी भाग हैं। इस सबके बावजूद अधिकांश महिलाओं, गैर-विषमलैंगिकों, दलितों और मुसलमानों को अपने अनुभवों के आधार पर यह पता है कि वे चाहे यह कहते रहें कि वे भी केवल 'नागरिक' ही हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि उन्हें उनकी पहचान के आधार पर चिन्हित कर दिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहचान बनाने की राजनीति को लोकतांत्रिक कहकर परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि पहचान का दावा करने के बहुत से अलोकतांत्रिक परिणाम भी हो सकते हैं। इसी तरह पहचान बनाने की राजनीति की प्रत्येक घटना को उनके द्वारा स्वयं को समाज के संदर्भ में परिभाषित किए जाने पर ध्यान दिये बिना ही उन्हें बुरा भी नहीं कहा जा सकता।

अब जहां तक पितृसत्ता का प्रश्न है तो नारीवादियों के उदगम के समय से ही उन्हें 'उत्पीड़न की व्यवस्था' का सामना करना पड़ा है। आमतौर पर जेंडर को किसी भी 'व्यापक पहचान या समूह' के साथ जोड़कर देखा जाता है और वर्ग, जाति, साम्प्रदायिकता, विकास के साथ जेंडर को जोड़ दिया जाता है। फिर पूछा जाता है कि साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं, जातीय उत्पीड़न और शक्तिविहीनों को हाशिये पर लाने वाली विकास की कार्ययोजनाओं से महिलायें और बच्चे किस प्रकार प्रभावित होते हैं। कभी भी यह नहीं कहा जाता कि पुरुष और बच्चे इनसे कैसे प्रभावित होते हैं। इस तरह जितने अधिक प्रश्न पूछे जायेंगे उतना ही इस मुख्य विषय को पहचान पाना कठिन हो जायेगा। यदि आप गंभीरता से जेंडर को उत्पीड़न की धुरी समझते हैं तो वर्ग, जाति और राष्ट्र स्वयं ही बहुत अलग नज़र आयेंगे। आप केवल इनमें जेंडर को जोड़कर हिला नहीं सकते।

जहां तक यौनिकता का प्रश्न है, नारीवादियों ने पितृसत्ता के अपने अनुभवों से बहुत कुछ सीखा है। यद्यपि सक्रिय रूप से इसमें स्वयं से डरने की भावना प्रकट नहीं होती फिर भी, आमतौर पर हमारे आंदोलन में यही कहा जाता है कि 'अभी नहीं, अभी सही समय नहीं है'। परन्तु क्या

'यौन व्यवहार और इच्छायें' केवल नारीवादिता के साथ जोड़ दिये गये विशेषण मात्र ही हैं। या फिर इस प्रश्न को इस तरह से अनुवाद कर प्रस्तुत किया जाये ताकि कोई भी नारीवादी इसे समझ सके — क्या जेंडर केवल राष्ट्रवाद या विकास के साथ जोड़ कर देखा जाने वाला विषय मात्र है? क्या हम नारीवादियों ने 50 वर्षों तक 'जेंडर को जोड़ो और हिलाओ' की प्रवृत्ति को केवल इसलिए चुनौती दी कि हम यौनिकता के विषय पर स्वयं ही इसे लागू कर देंगे?

हमें विशेष रूप से यह जानने की आवश्यकता है कि विषमलैंगिकता को सामान्य व्यवहार मानने में ही पितृसत्ता का मूल है। पितृसत्ता को जारी रखने के लिए आवश्यक है कि विषमलैंगिकता को अनिवार्य रखा जाये। अनिवार्य विषमलैंगिकता व्यक्ति की पहचान के अन्य स्वरूपों को भी घोषित करती है। जाति, वर्ण और सामुदायिक आधार पर व्यक्ति की पहचान जन्म से निर्धारित होती है। इन सभी पहचानों और सामाजिक संरचनाओं की शुद्धता तथा संपत्ति आधारित संबंधों को सुरक्षित रखने के लिए महिलाओं की यौनिकता पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है। केवल परिवार के पितृसत्तात्मक वर्तमान स्वरूप को ही सामाजिक अनुमति दी जाती है ताकि देश और समुदाय बने रह सकें।

पितृसत्तात्मक परिवारों को प्राकृतिक मान लिये जाने का एक उदाहरण देखें — मृत्युदंड शीर्षक से बनी फ़िल्म में स्पष्ट रूप से गर्भवती दिख रही शबाना, जिसका पति नपुंसक है, से पूछा जाता है कि "यह किसका बच्चा है"? इस प्रश्न के उत्तर में वह सामान्य रूप से उत्तर देती है "मेरा"। यह तो स्पष्ट है कि उसके पेट में पल रहा शिशु उसी का है परन्तु पितृसत्तात्मक समाज में यह प्रश्न अधिक महत्व रखता है कि इस बच्चे का बाप कौन है, वह किसकी जाति का होगा और किसकी संपत्ति पर अधिकार करेगा? यह तो स्पष्ट है कि यदि परिवार का यह स्वरूप भंग हो जाये तो राष्ट्र, जाति, वर्ण या समुदाय की पहचान को बनाये नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त संपत्ति के बंटवारे की कोई प्रणाली भी स्थापित नहीं रह सकती। इसका अर्थ यह होगा कि पितृसत्ता, पूंजीवाद और पहचान बनाने की अलोकतांत्रिक राजनैतिक प्रक्रिया को चुनौती देना विषमलैंगिक परिवार की प्राकृतिक स्थिति को चुनौती देने के समान ही होगा।

सामाजिक दायरों की निगरानी मात्र करना ही वैवाहिक संस्था का एकमात्र कार्य नहीं है। 1984 में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया गया कि पारिवारिक परिभाषा के अंतर्गत समानता और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों का कोई स्थान नहीं है। भारत के परिवार एक अत्यंत असमान धरातल पर आधारित हैं जिसमें सबसे पहले शादी के बाद पत्नी अपनी जाति बदलती है, जहां लड़कियों को संपत्ति में अपने भाई के समान अधिकार नहीं मिलते। सभी व्यक्तियों को स्वतंत्रता और समानता प्रदान करने से परिवार का वर्तमान स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाएगा। अब हम विवाह की दूसरी मुख्य विशेषता पर ध्यान दें जिसे स्वाभाविक माना जाता है — यह है लिंग के आधार पर काम का विभाजन जो घर पर महिलाओं द्वारा बिना वेतन के किए गए कार्य को वैधानिक दर्जा देता है। विवाह की विचारधारा यह सुनिश्चित करती है कि मनुष्य जाति को पैदा करने और उनके द्वारा काम करने की क्षमता विकसित करने के लिए महिलाओं द्वारा किए गए शारीरिक एवं मानसिक श्रम को 'अकर्म' समझा जाए और इस प्रकार के सभी अकर्म केवल महिलाओं द्वारा किए जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में निहित शोषण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और स्वयं महिलायें भी यह बात नहीं समझ पातीं कि जब वे सब काम प्रेम के वशीभूत होकर करती हैं तो फिर वे इस कभी न खत्म होने वाली अथक मेहनत से इतनी अप्रसन्न क्यों रहती हैं?

भारत में हम नारीवादियों ने विषमलैंगिक परिवारों के महत्व को चुनौती देने से सदा ही परहेज़ किया है। यह सही है कि हमने लगातार परिवारों में महिलाओं और बच्चों के शोषण पर अंगुली उठाई है परन्तु फिर भी समान नागरिक संहिता या दहेज प्रथा पर किए गए अपने अंतक्षेपों के द्वारा हम किसी न किसी रूप से वर्तमान पारिवारिक व्यवस्थाओं को और अधिक सुदृढ़ करते रहे हैं। इन उदाहरणों में हमने विषमलैंगिक, पितृसत्तात्मक और एकल विवाह की संस्था की आलोचना नहीं की बल्कि हम केवल इसके इर्द-गिर्द विद्यमान बहुविवाह, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा जैसे विषयों को ही अपनी आलोचना का निशाना बनाते रहे।

आइये अब हम 'यौनिक व्यवहार' के विषय को देखें। समलैंगिक व्यवहार के प्रति सीमित आलोचना करने का

एक तरीका यह है कि इस बात पर बल दिया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी गोपनीयता बनाये रखने का अधिकार होता है और नारीवादियों को यह जान लेना चाहिए कि बहुत से लोग विषमलैंगिक नहीं होते। कुछ न करने से इस तरह की आलोचना करना अधिक बेहतर है परन्तु यह किसी भी तरह विषमलैंगिकता के प्रति कोई चुनौती उत्पन्न नहीं करता क्योंकि यह विषमलैंगिक व्यवहारों की अनिवार्यता को नहीं पहचानता। यदि आपस में सहमत वयस्कों का मामला हो तो यौनिक व्यवहार पूर्णतः निजी मामला है जिसमें कानून को कोई दखल नहीं देना चाहिए, इस औचित्य के पीछे यह विचारधारा निहित है कि 'यौनिकता' एक निजी मामला है और 'सामान्य' यौनिक व्यवहार प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता है तथा इसका इतिहास या संस्कृति से कुछ लेना देना नहीं है। परन्तु यदि हम यह मान लें कि यौनिक व्यवहार संस्कृति से प्रभावित होते हैं तो हमें इस विचार का भी सामना करना पड़ेगा कि यौनिकता मनुष्य द्वारा बनाया गया व्यवहार है और यह 'प्राकृतिक' रूप से उत्पन्न नहीं होता।

अब इस संभावना पर भी गौर करें कि मनुष्य द्वारा निर्मित यौनिक व्यवहार से संबंधित नियम यातायात के नियमों की तरह अलग-अलग होते हैं ताकि किसी एक प्रकार की व्यवस्था को बनाया रखा जा सके — उदाहरण के लिए भारत में आप सड़क के बाईं ओर चलते हैं तो संयुक्त राज्य अमरीका में दाहिनी ओर। इसके आगे अगर यह कहा जाये कि आप यातायात नियमों को निर्धारित करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह उठायें कि दिल्ली में यातायात नियमों को इस तरह तैयार किया गया है कि वे अमीरों का ध्यान रखते हैं और निर्धनों के प्रति द्वेष रखते हैं, या फिर यह कि इन नियमों से पेट्रोल की खपत करने वाले वाहनों के उपयोग को बढ़ावा मिलता है जबकि साईकिल, सार्वजनिक यातायात और पैदल चलने जैसे ऊर्जा संरक्षण के उपायों को बढ़ावा नहीं दिया जाता। सहजता, समानता और प्राकृतिक संसाधनों के दीर्घकालिक होने को आधार बनाकर आप इस तरह के यातायात नियमों और शहरी योजना की अच्छाइयों के बारे में भी बहस कर सकते हैं। कम से कम कोई भी व्यक्ति गंभीर रूप से यह नहीं कह सकता कि यातायात नियमों की कोई भी व्यवस्था प्राकृतिक होती है।

आइये, अब हम इसी विचार को यौनिकता पर लागू करें। सबसे पहले तो यदि 'सामान्य' व्यवहार इतना ही प्राकृतिक होता तो उसे व्यवस्थित रखने के लिए इतने अधिक नियंत्रणों की आवश्यकता नहीं होती। कुछ उदाहरण देखें: जेंडर के आधार पर वेषभूषा का निर्धारण। कल्पना करें कि दाढ़ी वाला कोई व्यक्ति घाघरा पहन कर किसी सार्वजनिक स्थल पर देखा जाये। इससे 'सामान्य' समाज की नींव किस तरह से हिल जायेगी जब तक कि उसे हिजड़े के रूप में न देखा जाये और अलग व्यवहार के कारण सामाजिक व्यवस्था में हाशिये पर रख दिया जाये। केवल गलत शरीर पर गलत तरह के कपड़े पहनने मात्र से प्राकृतिक और सामान्य यौनिक पहचान की जड़ें हिलने लग जाती हैं। दूसरा उदाहरणः स्कूलों, परिवारों, मीडिया, शिक्षा और धर्म के माध्यम से हमारे विचारों को अनुशासित करने का प्रयास किया जाता है। इन सभी माध्यमों से आपको यह बताया जाता है कि समान लिंग के किसी व्यक्ति के साथ यौन करने का विचार करना भी पाप, पागलपन और नियम विरुद्ध होता है। तीसरा उदाहरणः यदि अन्य सभी तरीके विफल हो जायें तो लोगों को विषमलैंगिक बनाये रखने के लिए राजकीय सत्ता बिजली के करंट लगाने जैसी शारीरिक यातनायें भी अपनाती हैं। चौथाः बहुत से कानून जैसे हमारे देश में धारा 377 का नियम जो प्राकृतिक व्यवहार के विरुद्ध किसी भी यौन व्यवहार को दंडित करता है। हमें किसी भी प्राकृतिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए नियमों की आवश्यकता क्यों होती है? क्या लोगों को खाने या सोने के लिए बाध्य करने के लिए भी कोई नियम बनाये गये हैं? परन्तु किन्हीं कारणों से आपको ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जो यह सुनिश्चित करे कि लोग प्राकृतिक यौन व्यवहार ही करें।

यहां रोचक तथ्य यह है कि मनुष्य जाति वास्तव में पूरी तरह प्राकृतिक जीवन नहीं जीती। ऐसा प्रतीत होता है मानो संपूर्ण सभ्यता का एकमात्र लक्ष्य प्रकृति से अधिक से अधिक दूरी बनाये रखना है। हम प्रकृति द्वारा प्रदत्त कच्चे भोजन को पकाते हैं, हम प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए बसेरे बनाते हैं, हम गर्भनिरोधकों का प्रयोग करते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि 'अप्राकृतिक' को 'अनैतिक/गलत' के साथ समान रूप से देखने से एक कभी न खत्म होने वाली बहस होती रहती है।

यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौन सी सामाजिक व्यवस्था है जिसे 'सामान्य' यौन व्यवहार के नियम व्यवस्थित रखना चाहते हैं। यह सुनिश्चित करना क्यों आवश्यक है कि पुरुष केवल महिलाओं के साथ ही वैधानिक यौन संबंध रखें? यह सुनिश्चित करने की भी क्या आवश्यकता है कि महिलायें केवल अपने विवाहित पुरुष साथियों के साथ ही यौन संबंध रखें क्योंकि हम सभी जानते हैं कि एक ही साथी के साथ संबंध रखने के नियम केवल महिलाओं पर ही लागू होते हैं।

यदि परिवार का अर्थ केवल वस्तुओं या मानसिक योगदान देने की व्यवस्था से ही है तो किसी भी व्यवहार वाले लोगों के एक समूह को परिवार माना जा सकता है। क्या यह संभव नहीं है कि मनुष्य अनेक प्रकार के यौन व्यवहारों को अपनाने की इच्छा रखते हों और विषमलैंगिकता उनमें से केवल एक व्यवहार हो। यहां विचार करने वाली बात यह है कि केवल विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक परिवारों को ही मान्यता दी जाती है और इस तरह के परिवारों का उद्देश्य भी पुरुषों के माध्यम से संपत्ति और वंश को आगे बढ़ाना होता है। इसके लिए आवश्यक 'सामान्य' व्यवहार को राजसत्ता, नियमों और सामाजिक संस्थाओं द्वारा तैयार किया जाता है, कायम रखा जाता है और इसकी रक्षा की जाती है। यह तो प्राकृतिक या निजी व्यवहार से कोसों दूर हैं।

अन्य शब्दों में, धारा 377 में किसी असामान्य व्यवहार वाले 'क्वीयर' लोगों का वर्णन नहीं है जिनके असामान्य यौन व्यवहारों को सामान्य व्यक्ति मानव विज्ञानियों की तरह देख सकते हों। धारा 377 तो सामान्य पुरुष और सामान्य नारी के व्यवहारों के गठन से संबंधित है और यही वह आखिरी दलील है जो इस विचार को अभी तक बनाए रखे है कि 'सामान्य व्यवहार' की उत्पत्ति प्रकृति द्वारा होती है।

संभवतः हमने असामान्य यौन व्यवहार या 'क्वीयर' के विध्वंसनात्मक परिणामों पर गौर नहीं किया है। इस वक्तव्य को किसी भी भारतीय भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता क्योंकि यह पश्चिमी देशों में समलैंगिक व्यवहारों के विरोधी गैर विषमलैंगिक राजनैतिक आंदोलनों से उत्पन्न हुई है। इस परिभाषा का इतिहास और जड़ें उस संघर्ष के मूल से जुड़े हैं। परन्तु यहां केवल इस शब्द को अनुवाद करने की समस्या मात्र नहीं है क्योंकि इससे ऐसे प्रश्न भी खड़े हो जायेंगे कि हम भी अपने इतिहास में झांकने का प्रयत्न क्यों नहीं करते। यहां प्रश्न है कि हम उस संघर्ष से प्राप्त अनुभवों और वहां प्रयोग में लाई जा रही इस परिभाषा का प्रयोग स्वयं को यह स्मरण कराने के लिए करें कि हमारे यहां यौन इच्छाओं को अनुभव करने, निर्मित करने और उन्हें बनाये रखने में अनेक तरह के व्यवधान और लोचता रही है। इस क्षेत्र में अध्ययन आरंभ किये जाने से आधुनिक युग से पहले की दक्षिण एशियाई सामाजिक व्यवस्थाओं में यौन पहचानों की अतृप्त होने और साम्राज्यवादी आधुनिकता की प्रक्रिया के एक भाग के रूप में विषमलैंगिक पहचान को सामान्य मान लिये जाने का पता चलता है। मैं किसी भी तरह से यह नहीं कहना चाहती कि आधुनिक युग से पहले के समय में पूरी स्वतंत्रता रही थी। मेरा सुझाव केवल यह है कि विषमलैंगिकता के अतिरिक्त किसी भी यौनिक व्यवहार को मान्यता देने से विषमलैंगिक व्यवहार जैसी व्यवस्थाओं की दृढ़ता में कमी आती है।

भारत में नारीवादी आंदोलन के सामने हमेशा समलैंगिकता को लेकर विविध चुनौतियां रही हैं। अपने उच्चतम स्तर पर भी यौनिकता के बारे में इसके उच्चतम विचार केवल 'निजी इच्छाओं का आदर करने' तक ही सीमित रहे हैं। हमने देखा है कि इस तरह के विचारों से विषमलैंगिकता ही एकमात्र विकल्प बना रहता है अर्थात 'हममें से अधिकांश लोग विषमलैंगिक हैं और कुछ दूसरे लोग ही समलैंगिक स्त्री या पुरुष हैं। विषमलैंगिक व्यवहारों को न अपनाने वाले इन दूसरे लोगों की संख्या असीमित है। परन्तु यदि हम यह जान लें कि इस 'सामान्य' प्रतीत होने वाली विषमलैंगिकता को अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, बायो-मेडीकल और आर्थिक नियंत्रणों द्वारा निर्मित और व्यवस्थित रखा जाता है ताकि वर्ग, जाति और जेंडर की वर्तमान व्यवस्थाओं को जारी रखा जा सके तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम सब भी एक प्रकार से क्वीयर व्यवहार वाले लोग हैं अथवा इस तरह का व्यवहार करने में सक्षम हो सकते हैं।